

वाचिक अभिनय और लक्षणानुशीलन

सारांश

नाट्य प्रयोग की प्रभावोत्पादकता के लिये अभिनयगत कुशलता और काव्यबन्ध के उत्कृष्टता दोनों आवश्यक अंग हैं। ना. शा. में चार प्रकार के अभिनयों का वर्णन आया है—आंगिक, वाचिक, सात्विक और आहार्य। इनमें सम्पूर्ण वाचिक अभिनय काव्यबन्ध पर आधारित होता है। अतः भरतमुनि ने शोभाधयक तथा शोभापकर्षक तत्त्वों की चर्चा की है। काव्यबन्ध का तात्पर्य नाट्यकृति से है जिसे पाठ्य भी कहा जा सकता है। यह कविकृत एक प्रसिद्ध या कल्पित वर्णन होता है जिसको संवादों के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। दर्शकदीर्घा में उपस्थित प्रेक्षक वर्ग का इस पाठ्य के प्रति भी अनुराग हो अथवा पाठ्य के माध्यम से उनमें आनन्दातिरेक की सृष्टि की जा सके, इसके लिये पाठ्य का सुसंगठित रूप अत्यावश्यक है। पाठ्य को सुसज्जित एवं उत्कृष्ट बनाने के लिये अनेक उत्कर्षधयक तत्त्वों का निर्देश किया गया है जिनमें लक्षण, अलंकार गुण आदि प्रमुख हैं।¹ इनमें से काव्यलक्षण की काव्यशास्त्रीय चर्चा भरत के नाट्यशास्त्रा से ही प्रारम्भ होती है।



जय प्रकाश नारायण

सहायकाचार्य,
संस्कृत विभाग,
राष्ट्रीय संस्कृत संस्थानम्,
दिल्ली

मुख्य शब्द: वाचिक अभिनय, लक्षणानुशीलन
प्रस्तावना

आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्रा के 16वें अध्याय में वाचिक अभिनय के अन्तर्गत काव्य लक्षणों की चर्चा की है। भिन्न भिन्न विद्वानों ने इसे भिन्न भिन्न नामों से अभिहित किया है। आचार्य भरत ने इसे प्रारम्भ में काव्यविभूषण एवं बाद में भूषणसम्मित नाम दिया। शिंगभूपाल, भूषण, भोज ने लक्षण एवं शारदातनय ने प्रारम्भ भूषण तथा बाद में अलंकार कहा। जगदधरा ने इसका नाट्यालंकार के रूप में नामकरण किया।

आचार्य भरत की दृष्टि में काव्य लक्षण काव्यबन्ध के अति महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं। काव्यबन्ध को लक्षणों से युक्त होना चाहिये। नाम परिगणना के अनन्तर इसे भूषणसम्मित एवं भावार्थगत कहकर वे इसके रसानुकूल प्रयोग का प्रतिपादन करते हैं। यहाँ भूषणसम्मित का तात्पर्य अलंकारों से युक्त होना है। अर्थात् जिस प्रकार अलंकार से सुसज्जित रमणी सुन्दर एवं आकर्षक होती है उसी प्रकार लक्षणों से युक्त काव्य सुन्दर एवं रोचक होता है। दूसरा पद भावार्थगत का अर्थ है— इन भूषणादियों का प्रयोग रसानुकूल होना चाहिये अर्थात् ये काव्य की रस प्रवाहिता के पोषक हो, व्यवधन कारक नहीं। नाट्यशास्त्रा के टीकाकार अभिनवगुप्त के काल तक लक्षण को लेकर विभिन्न धरणायें प्रचलित हो चुकी थी। अभिनवगुप्त ने अपने ग्रन्थ अभिनवभारती में लक्षण सम्बन्ध पूर्व आचार्यों के दस मतों का उल्लेख किया है लक्षण काव्यशरीर निष्ठ है। इससे काव्य शरीर का सौन्दर्य सिद्ध होता है— जैसे पुरुष की मन्दमन्थरता।

1. लक्षण इतिवृत्ति स्वरूप है। इसे ही सन्ध्यम या वृत्यम भी कहा जा सकता है। बीज से निर्वहण तक सम्पूर्ण वृत्त इन्हीं तत्त्वों से सम्बन्धित है। महापुरुष के शरीर में सामुद्रिक लक्षणों की भाँति ही इनका उपयोग काव्यशरीर के सौन्दर्य के लिये किया जाता है।
2. कवि के द्वारा शब्दों के चयन की कुशलता ही लक्षण है इसके द्वारा ही कवि अर्थानुसारी वर्णों की योजना करता है।
3. शब्द, अर्थ एवं अभिप्राय समृद्धि ही लक्षण है।
4. लक्षण प्रबन्ध काव्य में रहता है।

5. कवि का विशेष कथन ही लक्षण है।
6. गुण एवं अलंकारों का उचित सन्निवेश ही लक्षण है।
7. अलंकार के अभाव में भी जो काव्यगत स्वाभाविक सौन्दर्य दिखायी देता है, वही लक्षण है।
8. शब्द और अर्थ के द्वारा सर्जित वैचित्र्य ही लक्षण है।
9. काव्य निर्माण में कवि की वर्णनभूमि ही लक्षण है।

उपर्युक्त मतों के अतिरिक्त एक और लक्षणगत विचार उपलब्ध है, जो सम्भवतः अभिनवगुप्त का भी मत है। इस मत के अनुसार लक्षण, काव्य एवं नाट्यरूपी भवन की भित्तियाँ हैं, शब्द और छन्दोविधन इस भवन की आधार भूमि है। गुण और अलंकार इस भित्ति के चित्रा हैं। इसी चित्रा रचना द्वारा सौन्दर्य का प्रकृतबोध होता है। दशरूपक इसकी खिड़कियाँ हैं।² भवन निर्माण का समस्त सौन्दर्य तथा नानावर्णों की मनोहर चित्रारचना भित्तिरूपी लक्षण पर परिपल्लवित होती है। वह भवन अपनी उपयोगिता के कारण न केवल सुखदायक आवास मात्रा ही होता है। इस प्रकार लक्षण का महत्त्व समस्त काव्यांगों में अधिक व्यापक है। यह सौन्दर्य योजना का माध्यम भी होता है।

अभिनवगुप्त की दृष्टि में लक्षण का अलंकार से प्रथम व्याख्यान किया जाना लक्षण की प्रमुखता का द्योतक है।³ प्रो. रेवाप्रसाद द्विवेदी ने अभिनवगुप्त के विचार की समीक्षा करते हुये लक्षण सम्बन्ध अपने मन्तव्य में बताया है कि लक्षण को भित्ति न मानकर भित्ति पर किया गया सुधलेप मानना चाहिये। यह लेप ही चित्रा का मूलाधार बनता है। इसके अभाव में चित्रापफलक चित्रा रचना के योग्य नहीं बन पाता है।⁴

आचार्य अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्रा के काव्यलक्षण को ध्यान में रखकर उसका पुनराख्यान सा किया है। उन्होंने लक्षण को ही शब्दार्थमय काव्यशरीर कहकर अलंकार को उसकी सौन्दर्यवृद्धि का साधन माना है। उनके मतानुसार जिस प्रकार पृथक्भूत हार से रमणी विभूषित होती है उसी प्रकार चन्द्र आदि पृथक् सिद्ध उपमानों से रमणी के मुख आदि का सौन्दर्यातिशय प्रतीत होता है। वैसे तो रमणी का मुख और उसका उपमान चन्द्र दोनों प्रथमसिद्ध और लौकिक वस्तुयें हैं किन्तु उनकी लौकिक सृष्टि में भी कवि प्रतिभा एक ऐसा सादृश्य देखती है जिसके द्वारा वे दोनों वस्तुयें परिवर्तित सी होकर उपमेयोपमान भाव के विचित्रा सम्बन्ध से अभिव्यक्त हो जाती जिनसे उनके सौन्दर्य की समृद्धि होती है। वस्तुतः काव्य में वर्णनीय वनितावादन आदि की सौन्दर्याभिवृद्धि का एकमात्रा कारण कवि की

प्रतिभा ही है, जिसके द्वारा वह लोकोत्तर सृष्टि व्यापार को ही लक्षण कहकर उसे एक प्रकार से कविप्रतिभा का शब्दार्थमय आविर्भाव के रूप में विवेचित किया है। जिससे स्पष्ट होता है कि लक्षण द्वारा ही काव्य सृष्टि में सौन्दर्य वृद्धि होती है एवं उसी के द्वारा काव्य के अलंकार भी सार्थक बनते हैं। इस सम्बन्ध में आचार्य अभिनवगुप्त ने ठीक ही कहा है कि यों तो पार्थिव व्यवहार में सादृश्य, अभेद, अध्यवसाय और विरोध आदि अनेक प्रकार के लौकिक सम्बन्ध प्रदर्शित होते हैं, किन्तु अपनी बाह्यरूपता में उन्हें काव्यालंकारों का प्रशस्त गौरवप्रदान नहीं किया जा सकता है। यदि ऐसा होता है तो 'गौरिव गवयः' में उपमा तथा 'स्थानुर्वा पुरुषो वा' में सन्देह अलंकार हो जाते। वस्तुतः इस प्रकार के कथन तो लौकिक सम्बन्ध मात्रा है किन्तु जब इन लौकिक सम्बन्धों के रूप में अधिष्ठानभूत कविव्यापार या लक्षण प्रतीत होता है तो उसे काव्यालंकारत्व की गरिमा प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार आचार्य अभिनव गुप्त ने काव्यबन्धेषु काव्यलक्षणेषु सत्सु द्वारा उस हेतु का निरूपण किया है जो प्रत्येक अलंकार के मूल में अनुस्यूत है। उनके इसी विचार की प्रतिध्वनि हमें परवर्ती आचार्यों द्वारा निरूपित 'वैचित्र्ये सति' पद में मिलती है जिसके अभाव में काव्यालंकारों का प्रयोजन सिद्ध हो ही नहीं सकता।

काव्यलक्षण की संख्या

नाट्यशास्त्रा के विभिन्न संस्करणों में लक्षण की दो पाठ परम्परायें उपलब्ध हैं। काशी संस्करण में घोष संस्करण, एम. एम. घोष में लक्षण अनुष्टुप् छन्द में वर्णित है जबकि काव्यमाला और गायकवाड़ संस्कराणों में उपजाति वृत्त में। नाट्यशास्त्रा में भरतमुनि ने कुल 36 लक्षणों की चर्चा की है। जिनमें 18 लक्षण सभी संस्करणों में समान दीखते हैं जबकि शेष 18-18 अलग-अलग संस्करणों भिन्न हैं।⁵ इस प्रकार दोनों परम्पराओं को मिलाने पर कुल 54 स्वतन्त्रा लक्षण हो जाते हैं।⁶ अभिनवगुप्त ने उपजाति छन्द में परिगणित लक्षणों को प्रामाणिक माना है तथा अनुष्टुप् छन्द में परिगणित शेष लक्षणों का उपजाति छन्द वाले लक्षणों में अन्तर्भाव किया है।⁷ उपजाति छन्द की यह परम्परा अभिनवगुप्त को अपने गुरु भट्टतौत से प्राप्त हुई थी। परवर्ती आचार्यों में धनंजय, कीर्तिधर और सर्वेश्वर आदि ने उपजाति छन्द एवं शिंगभूपाल और विश्वनाथ ने अनुष्टुप् परम्परा का अनुसरण किया है। भोज ने दोनों परम्पराओं का समन्वय कर एवं 12 नवीन लक्षण संकलित कर कुल 64 लक्षणों का उल्लेख किया है जबकि सागरनन्दी और विश्वनाथ ने इन लक्षणों के अतिरिक्त 33 नाट्यालंकारों की भी परिकल्पना की है।⁸ लक्षण की पाठ परम्परा में भिन्नता का समारम्भ भरत शिष्य कोहल द्वारा तथा

नाट्टालंकार की परिगणना का प्रवर्तन मातृगुप्ताचार्य द्वारा किया गया ।⁹ जयदेव ने अपने चन्द्रालोक में दोनों पाठभेद परम्पराओं से लक्षणों को लेकर मात्रा 8 तो कहीं 11 लक्षणों का ही उल्लेख किया है । शारदातनय ने भी 11 नये लक्षणों के साथ कुल 64 लक्षणों का उल्लेख किया है । आचार्य भरत प्रोक्त 36 काव्यलक्षणों के कुछ उदाहरण यहाँ द्रष्टव्य हैं –

विभूषण

अलंकारैर्गुणैश्चैव बहुभिः समलंकृतम् ।

भूषणैरिव चित्रार्थैस्तद् भूषणमिति स्मृतम् ॥¹⁰

जो रचना अनेक अलंकारों तथा गुणों से अलंकृत होने के कारण अलंकार से सजाये गये व्यक्ति की तरह सुशोभित होने लगे तो विविध अर्थगुण सूचक ऐसे लक्षण को 'विभूषण' समझना चाहिये ।

काव्य में गुणों और अलंकारों का विवेक के साथ प्रयोग ही रसनिष्पत्ति में सहायक होता है। लोक में भी कटुक कुण्डल इत्यादि का स्थान देश, काल, परिस्थिति, दृष्टा इत्यादि की दृष्टि से जो प्रयोग किया जाता है वह रसपोषक कहलाता है। यदि वियोग शृंगार में यमकों का प्रयोग अधिक मात्रा में कर दिया जाये तो रसमलिन हो जाता है, इसके उदाहरण मालतीमाधव में द्रष्टव्य है –

लीनेव प्रति विम्बितेव लिखितेवान्तर्नितेव च ।

प्रोत्कीर्णव च वज्रलेपघटितेव इति ॥¹¹

यहाँ करुण विप्रलम्भ वाले काव्य में यमक का निबन्धन अनुचित है। स्थान में निवेश जैसे – लीनेव इत्यादि अनेक उत्प्रेक्षाओं का एक साथ प्रयोग विप्रलम्भ जन्य कामावस्था का प्रत्यक्ष चित्रा उपस्थित कर देता है। अतः वह गुणों का आधयक ही हो जाता है। यह औचित्य का विचार ही विभूषण लक्षण का परिचायक है । इसी का निरूपण आनन्दवर्धनाचार्य ने भी ध्वन्यालोक में किया है। यह रूपकादि अलंकार वर्ग बड़ी समीक्षा के द्वारा ध्वनि शृंगार में विन्यस्त करने पर यथार्थता को प्राप्त होता है। अर्थात् अलंकार को अलंकृत करने वाला ही अलंकार कहलाता है, अन्यथा नहीं, यही अनुरूपता यहाँ होनी चाहिये –

ध्वन्यात्मभूते शृंगारे समीक्ष्य विनिवेशितः ।

रूपकादिलंकारवर्ग एति यथार्थताम् ॥

पुनः कहते हैं –

विवक्षात्परत्वेन नार्धित्वेन नार्धित्वेन कदाचन ।

काले च ग्रहणत्यागे नाति निवर्णहणैषिता ॥¹²

ध्वन्यालोक का प्रस्तुत उदाहरण आचार्य अभिनवगुप्त अपने लोचन में प्रस्तुत करते हुये कहते हैं रस के साथ गुण और अलंकार का सही प्रयोग भूषण है।

इस प्रकार विभूषण लक्षण से युक्त काव्य सुन्दर, रोचक एवं आनन्दानुभूति कराने वाला होता है। इसका प्रयोग काव्यबन्ध में अवश्य होना चाहिये ।

अक्षरसंघात

यत्राल्पेक्षरैः शिलष्टैर्विचित्रार्थोपवर्णनम् ।

तदप्यक्षरसंघातं विद्याल्लक्षणं संज्ञितम् ॥¹³

जहाँ थोड़े अक्षरों के प्रयोग से श्लेषगत वैशिष्ट्य के कारण विविध एवं वैचित्र्य सम्पन्न अर्थ की अभिव्यक्ति होती हो तो उसे 'अक्षरसंघात' नामक लक्षण समझना चाहिये ।

उदाहरण अभिज्ञानशाकुन्तलम्¹⁴में द्रष्टव्य है–

राजा दुष्यन्त प्रियंवदा से पूछते हैं –“क्या तुम्हारी सखी को शरीरातप अधिक तो पीड़ित नहीं करता” । प्रियंवदा उत्तर देती है – अब औषधि मिल गयी है, सब ठीक हो जायेगा । यहाँ औषधि से अभीष्ट प्रेमी राजा की प्राप्ति पर व्यंग्य व्यक्त होता है। अतः अक्षरसंघात के द्वारा इसमें वैचित्र्य आ जाती है। प्रायिक रूप से यह लक्षण शब्द मूलक है किन्तु कभी कभी खण्डलेष से दो शब्दों के कतिपय अक्षर मिलकर एक नया अर्थ दे देते हैं। अतः नामकरण अक्षर पर आधारित हैं, शब्द पर नहीं इसीलिये इसे अक्षरसंघात कहा गया है।

शोभा

विहैरर्थैः समं कृत्वा सिद्धार्थिः प्रसाध्यने ।

यत्रा श्लक्षणविचित्रार्था सा शोभेत्यभिधीयते ॥¹⁵

जहाँ सिद्ध पदार्थों से तुलना करके असिद्ध पदार्थों को सिद्ध किया जाय उस कमनीय एवं विचित्रा अर्थ से युक्त लक्षण को शोभा समझना चाहिये । यथा –

मेदश्छेदकृशोदरं लघुभवत्युत्थान योग्यं वपुः ।

सत्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमच्चितं भयक्रोध्योः ॥

उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषवः सिध्यन्ति लक्ष्ये चले ।

मिथ्या हि व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग्विनोदः कुतः ॥¹⁶

परिश्रम एक अच्छा गुण है जिसका लाभ इस श्लोक में बतलाया गया है। उन लाभ को इस श्लोक में बतलाया गया है। उन लाभों की योजना शिकार की ओर मोड़ दी गई है जो त्याज्य कर्म है । परिश्रम से लाभ सिद्ध है उसके योग से मृगयारूप व्यसन सिद्ध रूप में दिखलाया गया है।

यहाँ कोई अलंकार नहीं है, किन्तु कवि ने शब्द व्यापार योजना इस प्रकार की है जिससे मनोरम हृद्य अर्थ निष्पन्न हो गया है। अतः यह शोभा नामक काव्यलक्षण का उदाहरण है।

शोभा का कई स्थलों पर अन्य अर्थों में भी प्रयोग मिलता है। जैसे –

अपने प्रभाव को प्रकट करना शोभा कहलाता है, इसे – अन्त्यज अलंकार एवं मन आरम्भाव भी कहा जाता है। जब खान – पान इत्यादि के उपयोग

के द्वारा रूप यौवन और लावण्य अत्यन्त बढ़ जाते हैं और उससे स्त्रियों अलंकृत हो जाती हैं तब उस अलंकृत करने वाले तत्त्व को शोभा कहा जाता है। यह स्त्रियों का एक स्वभावतः उत्पन्न होने वाला ; अन्त्यजद्ध अलंकार है। **उदाहरणस्वरूप**

**अनाघ्रातं पुष्यं किसलयमलूनं कररुहै-
रनाविद्ध रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम् ।
अखण्डं पुण्यानां पुफलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः ॥¹⁷**

यहाँ दुष्यन्त शकुन्तला के शारीरिक सौन्दर्य का जमकर वर्णन किया है। निस्सन्देह शारीरिक सौन्दर्य स्वयं में एक आभूषण है।

सात्विक पौरुष गुण रूप में -

दाक्ष्यं शौर्यमथोत्साही नीचार्थेषु जुगुप्सितम् ।

उत्तमैश्य गुणैः स्पर्ध यतः शोभिति सास्मृता ॥

दक्षता, शौर्य, उत्साह, नीच तथा गन्दे व्यक्तियों के प्रति घृणा और गुणों में बड़े चढ़े लोगों के प्रति घृणा ये गुण पुरुष शोभा के माने जाते हैं। इन गुणों से परिपूर्ण व्यक्ति शोभा वाला कहलाता है।

उत्तालताडकोत्पातदर्शनेऽप्य विकम्पितः ॥¹⁸

ताड़का को प्रमथित करने मारने के लिये नियुक्त राम उसकी विशालता और भयानक उपद्रवों को देखकर भी प्रकम्पित नहीं हुये उनके हृदय में केवल यही संकल्प विकल्प उत्पन्न हो रहा था कि बेचारी स्त्री पर हाथ क्यों उठाया जाये।

राम का निर्भयरूप और बेचारी स्त्री के प्रहार करने में संकोच पौरुष गुण है। इस प्रकार शोभा स्त्री और पुरुष दोनों में होती है। स्त्री की शोभा उसकी शारीरिक यौवन जन्य चमक दमक में होती है, किन्तु पुरुष की शोभा उसकी वीरता में होती है। कभी कभी इन गुणों का व्यत्यय और घोलमेल भी हो जाता है। यदि वीरता के साथ पुरुष रूपवान् भी हो और यदि रूपवती होने के अतिरिक्त स्त्री में दक्षता इत्यादि गुण एवं वीरता हो तो ये अतिरिक्त स्त्री में दक्षता इत्यादि गुण एवं वीरता हो तो ये अतिरिक्त प्रशंसनीय विशेषतायें मानी जाती हैं।

कालिदास ने पार्वती ने यौवनोद्गम का इस प्रकार वर्णन किया है -

असंभृतं मण्डनमर्धैयष्टेरना सवाख्यं करणमदस्य ।

कामस्यपुष्यव्यतिरिक्तमस्त्रा वाल्यपरं सत्य वयः प्रपेदे

॥¹⁹

पार्वती ने बचपन के बाद ही आयु प्राप्त कर ली जो अंग यष्टि का ऐसा गुण था जिसे पहनने की आवश्यकता नहीं पड़ती। बिना पहने ही शरीर को आभूषित कर देती है। जो नशा तो उत्पन्न करती है किन्तु इसका नाम मदिरा नहीं है। कामदेव का बाण है किन्तु उसे पुष्पों में गिना नहीं जाता। इस प्रकार शोभा नायिका का एक यौवनालंकार है। नायक-

नायिका के रूप यौवन, लालित्य, सौकुमार्यद्ध आदि कारणों से शरीर पर बाह्य अलंकारों के बिना व्यक्त होने वाला विशिष्ट सौन्दर्य ही शोभा है।

शोभा नायक का एक सात्विक गुण भी होता है। इसके कारण वह नीच के प्रति घृणा तथा अधिक गुणों से स्पर्ध करता है। यह दो प्रकार के होते हैं - शौर्यशोभा और दक्षशोभा। इस प्रकार शोभा कई अर्थों में प्रयुक्त होता है। काव्य में तो यह चार चाँद ही लगा देता है।

लक्षणों के उत्तरोत्तरास की स्थिति

लक्षणों का महत्त्व समस्त काव्यांगों में अत्यन्त उत्कर्षशाली था। वे कथा शरीर काव्यशरीर के अपृथक् अंग और गुणालंकारों के आधार के रूप में स्वीकृत थे। इस प्रकार लक्षणों ने समान रूप से नाट्य एवं काव्य दोनों क्षेत्रों तक अपनी प्रभाव परिधि का विस्तार किया।

भरत मुनि के युग से लेकर अनेक शतकों तक लक्षणों का यद्यपि काव्यांगों के रूप में महत्त्व बना रहा किन्तु आगे चलकर काव्यशास्त्रा के विकास में अलंकारों की परम्परा ने धीरे धीरे अधिक प्रसार एवं महत्त्व प्राप्त किया जिससे लक्षणों की आभा धूमिल पड़ती गयी तथा उनका क्षेत्र भी कम पड़ने लगा। एक ओर तो महाराज भोज ने लक्षणों की संख्या वृद्धि की तथा अन्य आचार्यों ने भी यथासम्भव इसी क्रम में कही लक्षणों के नाम तथा कहीं उनके स्वरूप को भिन्न बतलाकर लक्षणों के विवेचन विवरण के विवर्जन क्रम को बनाये रखा था, तो दूसरी ओर, विश्वनाथ कविराज तथा सागरनन्दी आदि आचार्यों ने इन लक्षणों को नाट्यलक्षण कहकर छत्तीस प्रभेद दिखलाकर इन्हीं के साथ साथ नाट्यलंकारों को भी प्रतिपादित किया। ये नाट्यलंकार या तो भोज आदि से नवीन उद्भावित लक्षण थे या नाट्यशास्त्रा की पाठभेद परम्परा से प्राप्त ऐसे लक्षण थे जो छत्तीस लक्षणों से समायोजित नहीं हो पाये थे।

इसके अतिरिक्त धनञ्जय आदि ने इन लक्षणों का अन्तर्भाव अलंकार गुण सन्धि तथा भाव में हो जाने से काव्यांगों में उनके विवरण को देना ही आवश्यक मान लिया था। परिणामस्वरूप नाट्यलक्षणों तथा नाट्यलंकारों का विवरण देना एक परम्परा निर्वाह मात्रा हो गया तथा कालान्तर में यह लक्षण विवेचन का क्रम मन्दतर होने लगा। काव्यशास्त्रा के उत्तरोत्तर विकास के साथ गतिमान् होकर ये लक्षण नहीं चल पाये तथा उनकी "दसोन्मुखी स्थिति ने धीरे-धीरे न केवल उनकी महत्त्वपूर्ण स्थिति ही रहने दी अपितु उनकी अनुपयोगिता को भी बतलाना आरम्भ कर दिया था जिसका संकेत धनञ्जय के उपरोक्त विवरण से मिलता है। परिणामस्वरूप अलंकारों ने

लक्षणपद्धति का स्थान ले लिया जो नाट्यशास्त्र में अत्यवस्था 4 में वर्णित है।

लक्षण अलंकार के समतुल्य तत्त्व है। 16वीं शताब्दी के आचार्य विश्वनाथ के ग्रन्थ साहित्यदर्पण में लक्षण और अलंकार दोनों का अलग अलग वर्णन आता है। अन्य कई ग्रन्थों में भी दोनों पार्थक्येन वर्णित है। यहाँ हम देखते हैं कि लक्षण और अलंकार काव्य के दो तत्त्व स्वतन्त्रा किन्तु समानान्तर धरा के रूप में प्रवाहित हो रहे हैं। अलंकारों के साथ लक्षण का अस्तित्व समाप्त नहीं हो जाता। वैसे कुछ अलंकार लक्षण का नाम धारण कर विकसित हुये, कई लक्षण मिलकर एक अलंकार बन गये या एक लक्षण से कई अलंकारों का विकास हुआ, इसे लक्षण एवं अलंकारों का परस्पर उपकार्यो कारक भाव सम्बन्ध मानना समीचीन होगा।

भरत के बाद के कई मुख्य ग्रन्थों में इसकी चर्चा न होने से लक्षण का महत्त्व कम नहीं हो जाता, क्योंकि काव्यलक्षण के समान और भी काव्य के ऐसे कई तत्त्व हैं, जिनकी चर्चा सभी ग्रन्थों में नहीं मिलती। लक्षण की चर्चा परवर्ती काव्यशास्त्रा में उतना अधिक न किये जाने के और भी कई कारण हो सकते हैं। चूँकि मानव की स्वार्थपरायण तथा आंकुचित दृष्टि अन्तर्गुणों की अपेक्षा बाह्य रूप पर सहज रूप से ही मोहित होती है। अतः काव्य के आन्तरिक रूप में विद्यमान लक्षण की अपेक्षा बाह्यसौन्दर्य रूप अलंकार की ओर उनका आकर्षित होना स्वाभाविक ही है। यही कारण है कि जहाँ भरत ने मात्रा चार अलंकारों की चर्चा की थी वहीं आज यह संख्या बढ़कर सौ से अधिक हो चुकी है। लेकिन चाँदी के बाजार में आ जाने से या उसके अधिक प्रयोग किये जाने से हीरे का मूल्य घट नहीं जाता, ठीक उसी प्रकार अलंकार बढ़ जाने से लक्षण का महत्त्व कम नहीं हो जाता। यह तो लक्षण की विशेषता है कि अपना अस्तित्व बचाते हुये इसने अलंकार के विकास में प्रमुख योगदान किया है। इससे जो उसकी महत्ता और भी बढ़ जाती है।

निष्कर्ष

इस प्रकार उपर्युक्त निष्कर्ष से स्पष्ट हो जाता है कि काव्यलक्षण वाचिक अभिनय का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। इसका समावेश काव्य में होना अपेक्षित ही नहीं, अनिवार्य भी है।

पाद टिप्पणी

1. ना.शा. 16/116.120
2. अ. भा. ना. शा. 15/227।
3. अतएव पूर्व 'काव्यबन्धस्तु कर्तव्या:' इति।
4. प्रो. रेवाप्रसाद द्विवेदी भा. का. सं. में अ. सि. पृ. 32।

5. ना. शा. 16/5-39 गायकवाड़ ओरियेण्टल सीरीज 16.6-42 काशी संस्करण।
6. ना. शा. ,चौ.द्ध 17 1-41-1।
7. अभि. भा. भाग-2 पृ. 208-294।
8. ना. ल. रत्नकोश पं. 1737, 1840 सा. द. 6/27।
9. अभि. शा. पर राघवभट्ट की टीका पृ. 20।
10. ना. शा. 16/4।
11. मालतीमाध्वम्।
12. ध्वन्यालोक - 2।
13. ना. शा. 16/5।
14. अभिज्ञानशाकुन्तलम् - सप्तम अंक।
15. ना. शा. 16/6
16. अभिज्ञानशाकुन्तलम् 2/5
17. अभिज्ञानशाकुन्तलम् 2/10
18. संस्कृत नाट्यकोश पृ. 936
19. संस्कृत नाट्यकोश पृ. 937